दैनिक जागरण
क्रांति लाने के लिए सिर्फ एक विचार ही काफी होता है

सेना की शिकायत

एक ऐसे समय जब सेना की चुनौतियां बढ़ती जा रही हैं तब उसकी ओर से इस आशय की चिट्ठी सामने आना चिंताजनक है कि उसे खराब किस्म के गोला-बारूद की आपूर्ति हो रही है। सेना को घटिया युद्धक सामग्री की आपूर्ति किया जाना बेहद गंभीर मामला है। केवल इसकी तह तक ही नहीं जाना चाहिए कि ऐसा क्यों हो रहा है, बल्कि यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि सेना की अन्य जरूरतें भी समय पर पूरी हों। चूंकि घटिया गोला-बारूद की शिकायत करने के लिए सेना को चिट्ठी लिखनी पड़ी इसलिए यह सहज ही समझा जा सकता है कि उसकी समस्या सच में संकट पैदा करने वाली है। इसका अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि उक्त चिट्ठी में यह स्पष्ट किया गया कि खराब गोला-बारूद के कारण सैनिकों को क्षति उठानी पड़ रही है। सेना की मानें तो युद्ध क्षेत्र में हादसों की संख्या बढ़ी है और इसका कारण गुणवत्ता से हीन गोला-बारूद है। इन हादसों में जान गंवाने और घायल होने वाले सैनिकों की संख्या बढ़ने के साथ ही रक्षा उपकरण भी क्षतिग्रस्त हो रहे हैं। साफ है कि घटिया युद्धक सामग्री सेना को दोहरा नुकसान पहुंचा रही है। ध्यान रहे कि इस सामग्री का निर्माण सरकारी आर्डिनेंस फैक्ट्रियां कर रही हैं। अगर सरकार के स्वामित्व वाली फैक्ट्रियां अपना काम सही तरह नहीं कर रही हैं या फिर वहां तैयार उत्पाद गुणवत्ता के मानकों पर खरे नहीं उतर पा रहे तो इसके लिए आर्डिनेंस फैक्ट्री बोर्ड को बिना किसी देरी के जवाबदेह बनाया जाना चाहिए। युद्धक सामग्री की गुणवत्ता में खामी एक तरह से देश की सुरक्षा से खिलवाड़ है। क्या कोई यह देखने-सुनने वाला नहीं कि आर्डिनेंस फैक्ट्रियों के उत्पाद गुणवत्ता के मानकों पर खरे उतरें?

यदि सेना की शिकायती चिट्ठी सही है तो इसका मतलब है कि ऐसी किसी व्यवस्था का घोर अभाव है जो युद्धक सामग्री की गुणवत्ता में कमी को समय रहते दूर कर सके। यह ठीक नहीं कि घटिया युद्धक सामग्री का केवल निर्माण ही नहीं हो रहा है, बल्कि सेना को उसकी आपूर्ति भी की जा रही है। स्थिति कितनी चिंताजनक है, इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि सेना ने बढ़ती दुर्घटनाओं के चलते कुछ हथियारों का इस्तेमाल बंद भी कर दिया है। इससे खराब बात और कोई नहीं हो सकती कि खासतौर पर सेना के लिए गोला-बारूद तैयार करने वाले सरकारी कारखाने गुणवत्ता के मामले में बेहतर प्रदर्शन करने के बजाय चिंता का कारण बन रहे हैं। यह मानने के अच्छे-भले कारण हैं कि सेना को आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराने को लेकर किए जाने वाले दावों की हकीकत कुछ और ही है। अब तो यह भी लगता है कि रक्षा मंत्रालय से संबंधित संसदीय समिति की उस रपट को गंभीरता से नहीं लिया गया जिसमें कहा गया था कि तमाम सैन्य उपकरण इस्तेमाल के काबिल ही नहीं हैं। सच्चाई जो भी हो, इन तथ्यों को ओझल नहीं किया जा सकता कि पिछले कई वर्ष से रक्षा बजट में मामूली वृद्धि हो रही है और सेना की जरूरतें पूरी करने का काम प्राथमिकता के आधार पर मुश्किल से ही होता है।

मनमानी पर अंकुश

झारखंड में निजी स्कूलों की फीस बढ़ोतरी से परेशान अभिभावकों के लिए एक सुकून देने वाली खबर है। फीस बढ़ोतरी से जुड़ी एक याचिका पर सुनवाई करते हुए झारखंड हाईकोर्ट ने फैसला दिया है कि बिना उसकी इजाजत के निजी स्कूल अब फीस नहीं बढ़ाएंगे। हाईकोर्ट व जिला स्तर पर बनी कमेटी की अनुमति के बाद ही स्कूल बच्चों की फीस बढ़ा सकेंगे। इस फैसले से राज्य के अभिभावकों में यह उम्मीद जगी है कि अब शायद उन्हें स्कूलों की मनमानी फीस वृद्धि से राहत मिले, लेकिन यह क्षणिक खुशी है। असली राहत तब मिलेगी जब स्कूल इस फैसले के आलोक में फीस वृद्धि वापस लें, क्योंकि नया सत्र शुरू हो चुका है और वे शुल्क में बढ़ोतरी कर भी चुके हैं। निजी स्कूलों का एक लचर तर्क होता है कि वे सुविधा देते हैं। इसलिए फीस बढ़ोतरी उनका हक है। यह भी तर्क दिया जाता है कि सरकार फीस बढ़ाने को लेकर नियमावली तो बना सकती है, लेकिन फीस निर्धारण और इसमें बढ़ोतरी न करने का आदेश नहीं दे सकती। इस तरह का विचार सीधे-सीधे सरकार को चुनौती देना है। शिक्षा के नाम पर निजी स्कूल मनमानी नहीं कर सकते। देखा गया है कि शिक्षा के अधिकार को लेकर भी निजी स्कूल रुचि नहीं लेते हैं। निजी स्कूल तरह-तरह से अभिभावकों का दोहन करते हैं। शिक्षण शुल्क के अलावा तरह-तरह की गतिविधियों के नाम पर भी वसूली की जाती है। अभिभावक शोषण को सहते रहते हैं। स्कूली शिक्षा पर पर जिस तरह निजी स्कूलों का शिकंजा है, उसमें बड़ी भूमिका सरकार की है। सरकारी स्कूल धीरे-धीरे गुणवत्तापरक शिक्षा से दूर होते गए। बुनियादी शिक्षा तो इतनी लचर है कि गरीब व्यक्ति भी सरकारी स्कूलों में अपने बच्चों को नहीं भेजते। प्राइमरी शिक्षा का हाल यह है कि वहां अब पूरा जोर मध्याह्न भोजन पर है। जाहिर है निजी स्कूल इसी मौके का फायदा उठाते हैं। सरकार को निजी स्कूलों की मनमानी को रोकने के साथ सरकारी स्कूलों की स्थिति में सुधार करना चाहिए। सरकारी स्कूलों की दशा सुधर गई और अभिभावक उसमें अपने बच्चों को भेजने लगे तो काफी हद तक समस्या का समाधान हो जाएगा। इसके बाद अदालत के फैसले के आलोक में सरकार सख्ती बरते कि आखिर कौन से स्कूल हैं जो नियमों को तोड़ मरोड़ रहे, उनके प्रबंधन पर सख्ती बरती जाए।

विषमता के खिलाफ लंबी खिंचती लड़ाई

केसी त्यागी

जातिगत आंकड़ों की उपलब्धता के बाद समानुपातिक भागीदारी के बड़े बदलाव के लिए समाज को भी तैयार रहने की जरूरत है

बीते दिनों प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से उनकी जाति पूछने की होड़ मची। मोदी ने स्वाभिमान के साथ अपने को अति पिछड़ी जाति का स्वीकार कर उसे गर्व के साथ परिभाषित किया, लेकिन इसी के साथ भारतीय समाज की इस दुखती नस पर चाहे-अनचाहे बहस भी छिड़ गई है। चुनाव को जाति, धर्म से दूर रखने वाले लोग भी इस बहस का हिस्सा बन गए। सच है कि हमारा समाज हजारों वर्षों से वर्ण-जाति व्यवस्था की विषमताओं का शिकार रहा है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गांधी जी और डॉ. आंबेडकर के मतभेद राजनीतिक कम और सामाजिक अधिक थे। आंबेडकर और उनके अनुयायियों का आजादी के आंदोलन से निरंतर दूरी बनाने का बड़ा कारण यही अंदेशा था कि स्वतंत्र भारत में उनके वर्गों के साथ कैसा बर्ताव होगा और राजकाज में उनकी हिस्सेदारी कैसी होगी? कटु सत्य है कि अंग्रेज भारतीय समाज की जाति व्यवस्था को अपने राजकाज एवं प्रशासन में किसी प्रकार के भेदभाव के बगैर संचालित करते थे, जो आजादी के 70 साल बाद तक संभव नहीं हो पाया। पूना पैक्ट के बाद ही तय हो गया था कि दलितों, आदिवासियों के लिए संविधान में आरक्षण होगा। आंबेडकर हालांकि स्वतंत्र निर्वाचन की दोहरी व्यवस्था के भी पक्षधर थे, लेकिन यहां गांधी जी सहमत नहीं थे। आज भी ऐसे महानुभावों की कमी नहीं है जो समय-समय पर आरक्षण को खारिज करने की मांगकर एक बड़े वर्ग को उद्वेलित करते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो इस विवाद को तूल देते रहते हैं कि आरक्षण के कारण योग्यता एवं गुणवत्ता प्रभावित होती है और दलित-पिछड़ी जातियों के 'अयोग्य' लोगों को तरजीह मिलती है। इससे इतर पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधियों का मानना है कि आज भी उनके बीच सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन विद्यमान है।

2011 की जनगणना के अनुसार देश में अनुसूचित जाति के लोगों की जनसंख्या 20.14 करोड़ थी। आंकड़ों से स्पष्ट है कि जनसंख्या में लगभग 16 फीसद की भागीदारी रखने वाला यह समाज कितना हाशिये पर है। केंद्र सरकार के शीर्षस्थ 81 सचिवों में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों की संख्या क्रमशः 2 और 3 है। अतिरिक्त सचिव के पद पर इनकी भागीदारी क्रमशः 6 और 4 है। कुछ ऐसी ही स्थिति ओबीसी की है। एससी-एसटी वर्गों से राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति एवं कई केंद्रीय मंत्री बन चुके हैं, लेकिन ये प्रतीकात्मक ही साबित हुए हैं। शीर्ष प्रशासनिक अधिकारी जैसे कुलपति, जस्टिस, चीफ जस्टिस आदि बड़े पदों पर इनका प्रतिनिधित्व सीमित ही है। जातीय भेदभाव एवं मानसिक-शारीरिक उत्पीड़न उन्हें विरासत में मिलता रहा है। प्रत्येक 16वें मिनट में दलित प्रताड़ना की घटना समाज को कलंकित करती है। इनका सामाजिक-शैक्षणिक पिछड़ापन आज भी इन्हें अपने मौलिक अधिकारों और उनकी रक्षा से वंचित किए हुए है। संविधान के अनुच्छेद 16(4) के तहत राज्य के पिछड़े नागरिकों के किसी वर्ग, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य सेवाओं में अपर्याप्त है, के लिए नियुक्तियों में आरक्षण का प्रावधान किया गया है। अफसोसजनक है कि इन समूहों का अपेक्षित उत्थान अब तक नहीं हो पाया। संस्थानों की गुणवत्ता प्रभावित होने जैसी दलीलों के सहारे आरक्षित सीटें भी नहीं भरी गई हैं। देश के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय जेएनयू में मात्र 3.2 फीसद फैकल्टी दलित और 1.4 फीसद आदिवासी हैं, जबकि तय कोटे के तहत क्रमशः 15 फीसद और 7.5 फीसद का प्रावधान है।

अवधेश राजपूत

पिछड़ी आबादी का बड़ा एक हिस्सा आज भी निरक्षर, गरीब, लाचार और बेबस है। यह आबादी आसानी से गुमराह होती रही है। मंडल आयोग की अनुशंसाएं लागू होने के बाद अनेक पिछड़ी जातियों को आरक्षण के दायरे में लाया गया। अनुसूचित जातियों के लिए 15 फीसद, अनुसूचित जनजातियों के लिए 7.5 फीसद और अन्य पिछड़ों के लिए 27 फीसद आरक्षण पहले से है। अभी गरीब सवर्णों के लिए 10 फीसद आरक्षण की संस्तुति की गई। इसका एकमात्र उद्देश्य है आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक रूप से पिछड़ी जनसंख्या को विकास की मुख्यधारा से जोड़ना। निःसंदेह अब तक की सरकारें इन वर्गों का अपेक्षाकृत उत्थान नहीं कर पाई हैं, लिहाजा उनका आसानी से राजनीतिक इस्तेमाल हो रहा है। 1980 के दशक तक चुनाव विचार, नीतियों, स्थानीय मुद्दों पर लड़े जाते थे। मंडल के बाद जातीय ध्रुवीकरण को बल मिलना शुरू हुआ। चूंकि भारतीय समाज धार्मिक-जातीय वर्गीकरण का दंश पहले से झेलता चला आ रहा है लिहाजा राजनीति में भी जातीय ध्रुवीकरण की मजबूत पैठ बन गई है। कुल 543 लोकसभा सीटों में से अनुसूचित जातियों के लिए 79 और अनुसूचित जनजातियों के लिए 41 सीटें आरक्षित हैं।

इसके अलावा प्रत्येक दल जाति बहुल प्रत्याशी उतारकर बहुसंख्यक वोट साधने की कवायद करता है। आश्चर्यजनक रूप से कई पार्टियां आज सिर्फ जाति के नाम पर चल रही हैं। उप्र, बिहार और कई दक्षिणी राज्यों में जाति आधारित दल खूब फूले-फले हैं। फिर भी आगे दलित-पिछड़े वर्गों में असंतोष बढ़ने के आसार हैं। लंबी जद्दोजहद के बाद केंद्र सरकार जातीय जनगणना के लिए तैयार हुई है। इससे पूर्व सिर्फ 1931 की जातिगत जनगणना के ही आंकड़े उपलब्ध हैं। जनगणना से दलितों, महादलितों, आदिवासियों, पिछड़ों, अति पिछड़ों की संख्या के वास्तविक आंकड़े उपलब्ध होंगे। इनकी संख्या के अनुपात में इनके आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक सशक्तीकरण के लिए हुए प्रयास भी स्पष्ट हो जाएंगे। इससे यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि न्यायपालिका, दूतावासों, सचिव स्तर की नियुक्तियों, विश्वविद्यालयों में कुलपति, प्रधानमंत्री एवं राष्ट्रपति सचिवालयों में दलित-पिछड़े वर्गों की उपस्थिति कितनी है? आंकड़ों की उपलब्धता के बाद समानुपातिक भागीदारी के बड़े बदलाव के लिए समाज को भी तैयार रहना होगा। समझना होगा कि 37 फीसद दलित आबादी गरीबी रेखा से नीचे गुजर बसर कर रही है। इनके बीच 45 प्रतिशत निरक्षरता विद्यमान है। एससी में 45 फीसद तथा एसटी समाज में 29 फीसद लोगों के पास जमीन नहीं है। 79 फीसद ग्रामीण आदिवासी और 73 फीसद ग्रामीण दलित परिवार सर्वाधिक वंचित हैं। इस सूरत में चुनौती बरकरार है कि इतनी बड़ी आबादी का भला कैसे सुनिश्चित किया जाए?

बीते चार दशकों में राजनीति की केंद्र बिंदु रहीं इन जातियों की लामबंदी से केंद्र एवं प्रांतों में कई सरकारें बनीं, लेकिन उनका पिछड़ापन आज भी चुनावी मुद्दा बना हुआ है। आंबेडकर और लोहिया जैसे नेताओं की अनुपस्थिति में इन समूहों को केवल वोट बैंक बनाकर संजोया गया। इनकी आवाज बुलंद करने वाले आज के नेता भी राजनीति में मशगूल हैं। इस पर विचार करना होगा कि गांधी जी द्वारा गरीबों, दलितों और वंचितों को लेकर व्यक्त की गई चिंताएं आज भी क्यों कायम हैं? आंबेडकर की चिंताओं का अब तक हल क्यों नहीं ढूंढ़ा गया? मौजूदा लोकसभा चुनाव के प्रचार का केंद्र विकास, सुशासन नहीं बल्कि जाति पर अटका है। वक्त आ गया है कि सभी दल इन वर्गों के हितों की रक्षा के लिए तत्पर हों। समाज में पहले ही कई तरह के तनाव हैं। लिहाजा अंतर्विरोधों को धैर्यपूर्वक सुलझाना होगा ताकि नए सामाजिक संघर्ष का रणक्षेत्र तैयार न हो सके।

(लेखक जदयू के राष्ट्रीय प्रवक्ता हैं)

response@jagran.com

नंबरों की होड़ रोकने की जरूरत

डॉ संजीव राय

क्या किसी स्कूल ने पढ़ाई की प्रक्रिया को आधार मानकर अपने को पास-फेल करने का कोई तरीका ईजाद किया है?

सीबीएसई और अन्य शिक्षा बोर्डों के दसवीं और बारहवीं कक्षा के परीक्षा परिणाम आ चुके हैं। अपेक्षा के अनुरूप नंबरों के बढ़ते पैमाने के कारण अगले साल बोर्ड परीक्षा में बैठने वाले बच्चों और उनके माता-पिता पर अधिक दबाव बनना शुरू हो गया है। जिन छात्रों के 500 में से 495-496 या 497-498 आए हैं वे सोच रहे होंगे कि काश एक कुछ नंबर और आ गए होते। इसके विपरीत जिन छात्रों के अंक उनके स्कूल, मोहल्ले या रिश्तेदारों की तुलना में कम आए होंगे वे एक विशेष प्रकार का दबाव झेल रहे होंगे। हमारी परीक्षा प्रणाली सिर्फ पास और फेल नहीं करती है, बल्कि एक तरह से स्कूल द्वारा की गई ब्रांडिंग को सामाजिक स्वीकृति में बदल देती है। शुरुआती कक्षाओं से ही स्कूल बच्चों के बारे में एक धारणा बनाता है-ये तेज बच्चे हैं, ये स्कॉलर हैं और ये औसत बच्चे हैं। अपनी इन धारणाओं को शिक्षक और छात्रों के माता-पिता अपने सहकर्मियों के साथ साझा ही नहीं करते हैं, बल्कि जाने-अनजाने अपनी इस धारणा को सही साबित करने का प्रयास भी करते हैं। तुलनात्मक रूप से जिन बच्चों को शिक्षक पसंद करते हैं उन्हें कक्षा के भीतर और स्कूल की गतिविधियों में भागीदारी के अधिक मौके मिलते हैं। जिन छात्रों को शिक्षक पसंद करते हैं वे आगे चलकर अपनी सामाजिक-अकादमिक छवि बनाए रखने की मेहनत करते हैं और सफलता की सूची में अपना नाम दर्ज कर पाते हैं। अपवादों को छोड़ दें तो बहुमत में एक कक्षा के छात्र अपनी औसत गति और शिक्षक द्वारा गढ़ी गई छवि को स्कूल स्तर तक बनाए रखते हैं। स्कूल से निकलने के बाद अधिकांश छात्र अपने जीवन में और शिक्षा सहित अन्य क्षेत्रों में अपनी जगह बना लेते हैं, लेकिन जब भी कभी उन्हें असफलता का सामना करना पड़ता है तो समाज और परिवार स्कूल द्वारा गढ़ी पुरानी छवि को याद दिला देता है कि यह तो स्कूल में भी ऐसे ही थी या ऐसे ही था।

सीखना एक प्रक्रिया है जिसमें शिक्षक-छात्र, स्कूल-समाज, पाठ्यक्रम जैसे अनेक कारक भागीदारी करते हैं। अगर यह सिर्फ छात्र की अपनी उपलब्धि नहीं होती है तो फिर उसकी असफलता सिर्फ उसकी कैसे हो सकती है? क्या किसी स्कूल ने पढ़ाई की प्रक्रिया को आधार मान कर अपने को पास-फेल करने का कोई तरीका ईजाद किया है? जो अभिभावक अपने बच्चों के कम अंक आने पर निराश हैं, क्या वे यह नहीं जानते कि सफलता कोई स्थाई भाव लेकर नहीं आती है? क्या स्कूली परीक्षा के ये अंक सामाजिक जीवन में सफलता की गारंटी देते हैं? कितने लोगों को वे नाम याद हैं जिन्होंने दो साल पहले हाई स्कूल में टॉप किया था और इस साल सेकेंडरी परीक्षा में भी टॉपर हैं?

शिक्षा का मनोविज्ञान बार-बार यह शिक्षकों को याद दिलाता है कि बुनियादी रूप से प्रत्येक बच्चा दूसरों से अलग होता है। क्या किसी भी स्कूल में सभी शिक्षक सुपर श्रेणी के होते हैं? नहीं। छात्र-अभिभावक भी दबी जुबान में कुछ शिक्षकों को औसत दर्जे का मानते हैं। जब विविधता वाले समाज में सभी छात्रों के लिए एक ही तरह की लिखित परीक्षा होगी तो परिणाम भी अलग होंगे। अगर परीक्षा प्रणाली में तैरना, साइकिल चलाना, खेल-कूद, गीत -संगीत, अभिनय-नाटक आदि सब सम्मिलित कर दिया जाए तो क्या तब भी परीक्षा परिणाम यही होंगे?

स्कूल को समाज का एक लघु रूप माना जाता है और उससे यह अपेक्षा रहती है कि वह छात्रों में हौसला-हिम्मत और हुनर पैदा करेगा। अगर बहुमत में छात्र परीक्षा परिणाम के कारण अपना आत्मविश्वास खोते हैं तो स्कूल की जरूरत पर सवाल उठना स्वभाविक है? तकनीकी विस्तार के चलते अब शिक्षक ज्ञान के एकमात्र स्रोत नहीं रह गए हैं और छात्रों की निर्भरता सूचना के दूसरे माध्यमों पर बढ़ रही है। हाईस्कूल, इंटरमीडिएट स्तर पर शिक्षकों की भूमिका पढ़ाने से अधिक फैसिलिटेटर की हो रही है जिसमें अन्य स्रोतों से सामग्री एकत्र करके छात्र अपने प्रोजेक्ट कर रहे हैं। आज अगर सर्टिफिकेट की अनिवार्यता खत्म हो जाए तो कितने स्कूल ज्ञान देने के केंद्र के रूप में अपना अस्तित्व बचा पाएंगे? बढ़ते नंबरों की होड़ से समाज में तुलना और प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है। बच्चों की मार्कशीट का सार्वजानिक प्रदर्शन उनके तनाव का कारण बन सकता है। कहीं ऐसा तो नहीं माता-पिता अपनी असफलताओं की भरपाई बच्चों को लगातार बेहतर प्रदर्शन करने के दबाव से कर रहे हैं? सबको पता है कि अव्वल बने रहने की होड़ जीवन में हर जगह किसी को सबसे आगे नहीं रखेगी। तुलना एक प्रकार की कुंठा और हिंसा को जन्म देती है। ऐसे में यह सवाल भी विमर्श में आना चाहिए कि क्या स्कूल शिक्षा के निर्धारित उद्देश्यों की ओर बढ़ रहे हैं?

अमेरिका में स्कूल लगभग 180 दिन चलते हैं भारत में औसतन 180-200 दिन और जापान में सबसे अधिक 240 दिन। प्रतियोगिता स्थानीय स्तर पर ही नहीं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी है। विभिन्न देश और खासकर दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, चीन आदि शिक्षा व्यवस्था में बदलाव की बहस चला रहे हैं। पीसा, ओलंपियाड आदि संस्थाओं द्वारा कई देशों के छात्रों की सामूहिक परीक्षा का चलन भी शुरू हुआ है। भारत के साथ अन्य देशों में छात्रों के सीखने के मूल्यांकन को लेकर बहुत सी संस्थाएं काम कर रही हैं। पढ़ाने से अधिक सिखाने के मूल्यांकन को प्राथमिकता देने पर व्यापक बहस की जरूरत है। इसलिए और भी, क्योंकि अब तो नंबरों की होड़ में नर्सरी के बच्चे भी शामिल हो गए हैं। छोटी कक्षाओं में ट्यूशन और कोचिंग सेंटर्स की भरमार हो गई है। हाईस्कूल के पहले ही बच्चे आइआइटी-मेडिकल की कोचिंग में शामिल हो रहे हैं। माता-पिता अपने बच्चों को बेहतर अंक दिलाने के लिए दिन-रात एक कर रहे हैं। बच्चों के शादी-विवाह तक में जाने पर रोक है। होम वर्क का दबाव है। शिक्षकों पर भी दबाव है कि छात्र बेहतर परिणाम लाएं। बच्चों के पास तनाव लेने की क्षमता कम होगी होगी तो हताशा-आत्महत्या की प्रवृति बढ़ती जाएगी। नंबरों की यह होड़ अभी रुकती नहीं दिख रही है, लेकिन धीरे-धीरे कुछ लोग प्रताड़ना वाली इस मूल्यांकन पद्धति से बाहर आना चाहते हैं। परीक्षा से डराकर रखने के बजाय छात्रों को एक बेहतर इंसान बनाने की आवश्यकता है। शिक्षा के उद्देश्य और उन तक पहुंचने की प्रक्रिया की पड़ताल करनी होगी। कुछ लोग विकल्प के तौर पर ओपन स्कूल और होम स्कूलिंग को अपना रहे हैं। ओपन स्कूल में छात्रों को परीक्षा में बैठने के कई मौके मिलते हैं। यह कुछ हद तक छात्रों के लिए कहीं अधिक सुविधाजनक है। जो भी हो, नंबरों की दौड़ को रोकना होगा और मूल्यांकन के अन्य तरीकों को अपनाना होगा।

(लेखक टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज में सहायक प्रोफेसर हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

मानवीयता

मानव जीवन का उद्देश्य अपने मन, वचन और कर्म से दूसरों की मदद करना है। जो लोग दूसरों की मदद को सदैव तत्पर रहते हैं, उन्हें जीवन में तनाव कम होता है और मानसिक शांति एवं आनंद का अनुभव ज्यादा होता है। इसकी वजह यह है कि ऐसे लोग अपनी आत्मा से गहरे जुड़े हुए होते हैं। ऐसे लोग अपने-पराए का भेद कदापि नहीं करते हैं, बल्कि ये हर किसी के दुख-दर्द को अपनी आत्मा से महसूस करते हैं, इसलिए ये आसानी से दूसरों की मदद करने को हमेशा तैयार रहते हैं। हम जब तक दूसरे के दुख-दर्द को अपनी आत्मा से महसूस नहीं करेंगे, तब तक उनकी मदद नहीं कर सकते। सभी मनुष्यों द्वारा आपस में प्रेम और सहयोग करने का मूल पाठ मानव धर्म सिखाता है। यहां जाति, धर्म, संप्रदाय, देश इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। मानवीयता के अभाव में सभ्यता व संस्कृति का विकास भी संभव नहीं है। मनुष्य द्वारा प्रेम से ही उसकी सभ्यता व संस्कृति विकसित होती है। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति का नैतिक आदर्शों में विश्वास नहीं है तो माना जाएगा कि वह अभी मानव धर्म से बहुत दूर है।

सभी नैतिक मूल्यों का मूल मानवीयता ही है। विश्व में प्रत्येक देश की भाषा-संस्कृति भिन्न-भिन्न हो सकती है, लेकिन सभी के कल्याण का मार्ग सिर्फ मानवीयता में है। हमें यह मानव जीवन किसी भी कीमत पर व्यर्थ और उद्देश्यहीन नहीं जाने देना चाहिए। विश्व की सुख-समृद्धि की कामना ही हमारे जीवन का उद्देश्य होनी चाहिए। केवल अपने सुख-सुविधा की चाह हमें मानव होने से अलग कर देती है। हमारे जीवन की सार्थकता तभी सिद्ध होगी, जब हम दूसरों के दुख-दर्द में साथ निभाएंगे। यदि हमने अथाह भौतिक संपन्नता भी प्राप्त कर ली, लेकिन हमारे भीतर मानवीयता का अभाव हो तो सारी उपलब्धियां निरर्थक रह जाएंगी। मानवीयता के प्रति समर्पित होने वाला मानव ही सुखी और संपन्न रहता है। परोपकार से ही कल्याण संभव है। यदि हम किसी कामना या चाह के लिए दूसरों की सेवा करते हैं तो वह मानवीयता नहीं है। स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि निःस्वार्थ भाव से सेवा करना मानव का सबसे महान कर्म है। मानवीयता के भाव से व्यक्ति दूसरों के दुखों को दूर करने की चेष्टा में अपनी परेशानियों को भूल जाता है और उसके तन-मन की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

शंभूनाथ पांडेय

सुधारनी होगी पानी की कहानी

कौशल किशोर

कई इलाकों में तमाम तालाब विकास की भेंट चढ़ गए हैं। पानी की स्थिति सुधारने के लिए उन्हें सहेजने की जरूरत है

गाजियाबाद शहर से एकदम सटा हुआ गांव है रईसपुर। फिलहाल इस गांव की हालत उस तीतर की तरह है जिसे शिकारी ने कैद कर परदे में छिपा रखा हो। शहरीकरण के साये में गांवों की कतार में यह आखिरी पायदान पर लड़खड़ाने को मजबूर है। दो साल पहले यहां तीन ऐसे तालाबों को फिर से खोदा गया था, जिसे सही मायनों में एक ही कहना चाहिए। बीते साल इतनी बरसात भी नहीं हुई कि ये लबालब भर सकें। खैर! अब ये तालाब पानी से भरे तो नहीं लगे हैं, पर सूखे गड्ढों को देखकर कोई इनके लड़खड़ाने की बात पर आपत्ति भी नहीं करता है। कमोबेश ऐसी ही दशा में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इसी जिले के सौ से अधिक तालाबों की है। नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल के आदेश पर इन्हें वर्ष 2017 में ही दोबारा खोदवाना शुरू किया गया था।

उत्तर प्रदेश के इस मामले का गहरा संबंध पंजाब से है। दरअसल पटियाला के रोहर जागीर गांव में भूमाफियाओं ने तालाब पर कब्जा जमाकर अट्टालिका खड़ी कर दी। अवैध कब्जे के इस मामले को कलेक्टर ने वाजिब मानकर कीमत वसूलने का फरमान जारी किया। फलस्वरूप यह मुकदमा सुप्रीम कोर्ट तक पहुंचा। वर्ष 2011 में जगपाल सिंह की इसी अपील का निर्णय जस्टिस मार्कंडेय काटजू और ज्ञान सुधा मिश्रा की अदालत ने सुनाया था। इसमें देश भर के जल स्रोतों को अतिक्रमण मुक्त करने का आदेश दिया गया। इसकी तामील होने की दशा में भूमाफियाओं को जोर का झटका लगता। इसकी वजह से गाजियाबाद के सुशील राघव ने जिले भर के जल स्रोतों को बचाने के लिए उच्चतम न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की। बहरहाल यह मामला भी फिलहाल नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल में लंबित है।

गाजियाबाद के 1021 तालाबों और 73 झीलों के बारे में जानकारी सबके सामने है। सूखे गड्ढों को तालाब नहीं कहते हैं। इसी एक वजह से इन कोशिशों को असफल ही माना जाता है। यदि हम थोड़ा अतीत में जाएं तो पाते हैं कि जल संकट की समस्या से बचने के लिए पुराने-जमाने में हमारे पुरखों ने गांवों में तालाब और कुएं खोदे, किंतु विकास के आधुनिक युग में पुरानी परंपराओं को त्याग कर इनकी जमीन पर कब्जा करने को भी उचित मान लिया गया है। इस परिवर्तन का नतीजा आज सबके सामने है। यह अध्ययन डासना गांव में पूरा होता है, जो मुस्लिम बहुल इलाका है।

यहां तीन सौ साल पुराने जिस मंदिर को हिंदुओं और मुसलमानों ने मिलकर सहेजा था, आज उसके परिसर में मुस्लिम समुदाय के लोगों का प्रवेश भी वर्जित हो गया है। गर्मी शुरू होते ही इस परिसर में स्थित तालाब सूख गया है। इससे धर्म के नाम पर होने वाली राजनीति को तो बल मिलता है, पर साझेदारी से सहेजे गए जल स्रोतों को क्षति ही पहुंचती है। यहां ऐसे तालाब दिखते हैं, जिसे केंद्र सरकार में मंत्री जनरल वीके सिंह और जिलाधिकारी ने पुनः खोदवाने में पहल की है। डासना इलाके के चार सूखे तालाबों के जीर्णोद्धार के लिए स्थानीय लोगों को हिंदू-मुस्लिम का राग अलापने के बदले मेवात की संस्कृति की ओर लौटने की जरूरत होगी। हिंदू-मुस्लिम प्रेम और सौहार्द की यह संस्कृति सदियों तक इस क्षेत्र की पहचान रही है।

(लेखक स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

मेलबाक्स

पूरे समाज के प्रतिनिधि हैं राजनीतिक दल

संपूर्ण समाज का संगठन है संघ- शीर्षक से लिखे लेख में मनमोहन वैद्य ने भ्रमवश समाज के विविध क्षेत्रों को एकाकी रूप में देखने का प्रयास किया है, जबकि वास्तविकता में सामाजिक, संस्कृति, शिक्षा, राजनीति, सेवा, धार्मिक, सुरक्षा आदि सभी क्षेत्र नाम से अलग होते हुए भी परस्पर पूरक हैं। इसीलिए यह कहना उचित नहीं है कि राजनीतिक दल समाज के केवल एक हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं। पश्चिमी द्वंद्वात्मक सोच की आलोचना करते समय लेखक यह भूल गए कि भारत का विचार एकाकी नहीं, बल्कि पारस्परिकता के सिद्धांत पर आधारित है। राजनीतिक, शिक्षा सहित सभी क्षेत्र एक-दूसरे के पूरक हैं व प्रत्येक क्षेत्र की गतिविधियां एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। यदि शिक्षा क्षेत्र में कोई सुधार या परिवर्तन होता है तो निःसंदेह वह सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है। सांस्कृतिक या धार्मिक क्षेत्र में आई जागृति संपूर्ण राजनीति की दिशा बदल देती है। पाश्चात्य जगत की सेमेटिक विचारधारा के कारण उन्हें रिलीजन व सत्ता में शक्ति का विभाजन करना पड़ा तथा वही से 'सेक्युलर' शब्द का जन्म हुआ। भारत में स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति कभी नहीं आई, क्योंकि धार्मिक क्षेत्र के मार्गदर्शन में ही हमारी राजनीति पुष्पित-पल्लवित हुई है, पर वर्तमान व्यवस्था में इस सेक्युलरिज्म को थोपने का अनवरत अनावश्यक प्रयास चल रहा है, जबकि भारत स्वाभाविक रूप से राज्य संचालन में किसी भी भेदभाव से निरपेक्ष रहा है। वसुधैव कुटुंबकम की अवधारणा के साथ विश्व के कल्याण की विचारधारा वाली सनातन भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष की लालसा लिए संघ संपूर्ण समाज व संपूर्ण क्षेत्र का मार्गदर्शक संगठन है। सत्य यही है कि राजनीतिक दल या क्षेत्र संपूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं और अन्य सभी क्षेत्र भी समाज के किसी हिस्से तक सीमित न होकर सभी का नेतृत्व करते हैं व परस्पर पूरक हैं। संघ भी व्यवहारिक रूप में शिक्षा, राजनीतिक, सांस्कृतिक सहित संपूर्ण क्षेत्रों व संपूर्ण समाज का मार्गदर्शक संगठन है।

अजीत उपाध्याय, बक्सर

बांटने वाली सियासत

फिल्म अभिनेता कमल हासन ने अपने एक बयान में कहा कि आजाद भारत का पहला आतंकी एक हिंदू नाथूराम गोडसे था। उक्त बयान की जितनी निंदा की जाए कम है। आतंकियों का न कोई धर्म होता है और न ही जाति होती है। वह तो केवल मानव और मानवता का दुश्मन होता है। फिर चाहे वह किसी भी मजहब से जुड़ा हुआ क्यों न हो। किसी एक की करतूत के लिए समूचे धर्म या मजहब को कटघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता। फिर आज ऐसे बयानों का क्या मतलब है? इससे देश व जनता को क्या लाभ हो रहा है? केवल अपने सियासी लाभ के लिए इस प्रकार के बयान ना तो देश हित में है ना जनहित में। इससे नफरत व घृणा की दीवार जरूर खड़ी हो जाती है। जो देश की एकता व बुनियादी मजबूती के लिए घातक है।।

hemahariupadhyay@gmail.com

हत्यारा या आतंकवादी

कमल हासन एक अच्छे कलाकार हैं। उनकी अपनी एक छवि है, लेकिन उनका गोडसे को पहला हिंदू आतंकवादी बताना अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। क्या आतंकवादी और हत्यारे के बीच का फर्क उन्हें समझाना पड़ेगा। गोडसे अपनी अतिवादी सोच और गांधी के प्रति क्रोध के कारण इतना असहिष्णु हो गया कि हत्या जैसे निंदनीय व घृणित कृत्य को अंजाम दे बैठा। जिसकी उसे सजा भी दी गई। सैकड़ों लोग निजी कारणों से दूसरे की हत्या करने के अपराध में जेल मे बंद हैं, क्या उन सबको आतंकवादी कहा जाएगा। आतंकवादी वो होते हैं जो अपनी विचारधारा को दूसरों पर थोपने के लिए और आतंक का माहौल बनाने के लिए मासूमों को मौत के घाट उतार देते हैं। आतंकवाद को जड़ से खत्म करने के लिए कोरी बयानबाजी नहीं, ठोस कदम उठाने की जरूरत है।

डॉक्टर प्रतिभा अग्रवाल, गुरुग्राम

लोकतंत्र का गला घोंटने की कोशिश

पश्चिम बंगाल में हो रही चुनावी हिंसा निंदनीय है। आज पूरे भारत में जहां शांतिपूर्ण चुनाव हो रहे हैं, वहीं बंगाल एकमात्र ऐसा राज्य है, जहां लोकतंत्र का गला घोटने का कार्य किया जा रहा है। हत्याएं हो रही हैं, मतदाता केंद्रो पर कब्जा किया जा रहा है। चुनाव लड़ रहे प्रत्याशियों और उनके समर्थकों पर लगातार जानलेवा हमले हो रहे हैं। लोकतंत्र के लिए इसे किसी भी लिहाज से शुभ संकेत नहीं कहा जा सकता।

रवि पाण्डेय, फरीदाबाद

इस स्तंभ में किसी भी विषय पर राय व्यक्त करने अथवा दैनिक जागरण के राष्ट्रीय संस्करण पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए पाठकगण सादर आमंत्रित हैं। आप हमें पत्र भेजने के साथ ई-मेल भी कर सकते हैं।

अपने पत्र इस पते पर भेजें :
दैनिक जागरण, राष्ट्रीय संस्करण,
डी-210-211, सेक्टर-63, नोएडा
ई-मेल : mailbox@jagran.com

संस्थापक-स्व. पूर्णचन्द्र गुप्त. पूर्व प्रधान संपादक-स्व.नरेन्द्र मोहन. संपादकीय निदेशक-महेन्द्र मोहन गुप्त. प्रधान संपादक-संजय गुप्त, जागरण प्रकाशन लि. के लिए: नीतेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा 501, आई.एन.एस. बिल्डिंग, रफी मार्ग, नई दिल्ली से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा डी-210, 211, सेक्टर-63 नोएडा से मुद्रित, संपादक (राष्ट्रीय संस्करण) -विष्णु प्रकाश त्रिपाठी*
दूरभाष : नई दिल्ली कार्यालय : 23359961-62, नोएडा कार्यालय : 0120-3915800, E-mail: delhi@nda.jagran.com, R.N.I. No. DELHIN/2017/74721 * इस अंक में प्रकाशित समस्त समाचारों के चयन एवं संपादन हेतु पी.आर.बी. एक्ट के अंतर्गत उत्तरदायी। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अधीन ही होंगे। हवाई शुल्क अतिरिक्त।